International Journal of Information Movement Vol.2 Issue VIII (December 2017)
Website: www.ijim.in ISSN: 2456-0553 (online) Pages 99-105

'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका में प्रकाशित आदिवासी कहानियाँ

मोनिका मीना
शोधार्थी
हिंदी विभाग, राज्यस्थान विश्वविद्यालय जयपुर
ईमेल: monumeena8010@gmail.com

वर्तमान काल दलित विमर्श और स्त्री विमर्श के समान ही आदिवासी विमर्श का ही साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी केन्द्रित रचनाएँ सभी विधाओं में निरन्तर प्रकाशित हो रही है। इन रचनाओं में आदिवासी समाज और संस्कृति की झलक स्पष्ट दिखायी देती है। किसी विमर्श को आगे बढ़ाने में पत्र–पत्रिकाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आदिवासी विमर्श को दुनिया से परिचित कराने में भी पत्र–पत्रिकाओं का महत्ती योगदान रहा है। 'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका का भी आदिवासी भाषाओं में लिखित आदिवासी साहित्य को अनुदित रूप में प्रकाशित करने, आदिवासी साहित्य व समाज के संकटों, कठिनाईयों, संस्कृति, परंपरा से मुख्यधारा को रूबरू कराने में अतुलनीय योगदान रहा है। सर्वप्रथम पत्रिका द्वारा दो आदिवासी विशेषांक निकाले गये उसके पश्चात् सामान्य अंकों में भी निरन्तर आदिवासी साहित्य प्रकाशित किया जाता रहा है जो वर्तमान तक जारी है। आदिवासी समाज के शोषण व समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने में कहानी भी महत्त्वपूर्ण विधा रही है। पत्रिका में आदिवासी एवं गैर–आदिवासी लेखकों की विभिन्न आदिवासी कहानियाँ प्रकाशित की गई है।

इन कहानियों में स्वास्थ्य, शिक्षा, गरीबी, अभाव, उपेक्षा, तिरस्कार, शोषण, उत्पीड़न, अंधविश्वास, रिश्वतखोरी, ब्याजखोरी, अस्पृश्यता, रोग, शोक, भाग्यवाद, नक्सलवाद, आन्दोलन, मुख्यधारा के षड्यंत्र, नारी और आदिवासी–चेतना, मौलिक अधिकारों की दुर्गति, आदिवासियों पर वन विभाग के अत्याचार, पुलिसिया आतंक, सामाजिक वैमनस्य, हत्या, बलात्कार आदि विकराल समस्याएँ मुँह फाड़े खड़ी हैं, पर सरकार कागजों पर गरीबी और गरीबों को मिटाने में व्यस्त है। आदिवासियों के हिस्से में सिर्फ मार और गालियाँ ही है। संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकार तो अन्य लोगों के लिए ही है। यहाँ 'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका में प्रकाशित कुछ कहानियों पर इस संदर्भ में चर्चा की जा रही है –

'वह गिरिजन युवती' (अंगलकुर्ति विद्यासागर) मूलतः तेलुगु भाषा में लिखी गई आंध्रप्रदेश के कोया जनजाति की युवती के शोषण की कहानी है। गिरिजनेतर पुरूष कोया जनजाति की युवतियों को अपने जाल में फँसाकर उनका शोषण करते हैं। राजम्मा आश्रम पाठशाला के शिक्षक बालकृष्ण का शिकार बनती है। ऐसे अनैतिक संबंधों से संतान उत्पन्न हो जाने पर कोया युवतियाँ अपने अधिकार के लिए विरोध न कर इसे अपनी नियति समझती है और पुरूष मुआवजा राशि देकर अपने कलंक से मुक्ति पा लेता है। 'गुडेम' (जनजाति के गाँव) के लोगों की इसी सोच ने उनकी स्थिति बदतर कर रखी है और बालकृष्ण जैसे सरकारी नौकर फायदा उठाते हैं। गिरिजनेतर लोगों के हाथों एक दिन के सुख के लिए भोली–भाली युवतियाँ मसली जाती हैं। जमीन हासिल करने के लिए मैदानी लोग कोया कन्याओं से शादी का पाखंड रचते हैं। सभ्य वर्ग आखिर कब तक हर्जाना दे देकर असंख्य कोया कन्याओं को बलि का बकरा बनाता रहेगा? कहानी सोचने पर विवश करती है।

'तूफान' (रूपचंद हांसदा) संताली अनुदित कहानी एक बहादुर और निडर आदिवासी लड़की की कहानी है। 'आधा आँचल' (कृष्णचंद्र टुडु) संताली कहानी आदिवासी युवती के प्रेम और आंतरिक अन्तर्द्वन्द्व की मार्मिक अभिव्यक्ति है। शिक्षा का क्षेत्र भी लूट से अपना दामन बचाने में सफल नहीं हो पाया। केदारप्रसाद मीणा की कहानी 'बरेंडा' भोले–भाले आदिवासियों को दबंग आदिवासी द्वारा पद, पैसा, गुंडई के बल पर तबाह करने की व्यथा को उकेरती है। निश्चय ही वे समस्या की जड़ पर कसकर प्रहार करते हैं। कहानी कटु सत्य का दस्तावेज है कि किस तरह नव पूँजीवादी शिक्षित आदिवासी नेता, अधिकारीगण आदिवासियों के हमदर्द और समाजसेवी जैसे मुखौटे लगाकर अपने ही समाज का शोषण कर रहे हैं। कथाकार का साहस ही है कि वह अपने ही समाज के उच्च वर्ग के घिनौने चेहरे का पर्दाफाश करके अभिव्यक्ति का इतना बड़ा खतरा उठाते हैं।

यशवंत की कहानी 'खूनदान' भूआर्य के माध्यम से इस तथ्य पर प्रकाश डालती है कि किस प्रकार सामाजिक परंपराओं और पंच परमेश्वरों की दंड प्रक्रिया के फलस्वरूप आदिवासी गरीबी के रसातल में पहुँचने को विवश हो जाते हैं। 'पोला' त्योहार के दिन शराब के नशे में चूर भूआर्य और सहारा ने गाँव की पाठशाला के गुरुजी के दुंगदुंगा (खुले) पीठ पर हथेली ठोक दी थी। गुरुजी ने बात को रफा–दफा कर दिया किंतु गाँव के फिरंतुबाज और चतुर सुजान गणमान्य नागरिकों ने पीछा नहीं छोड़ा। भूआर्य को दोषी मानकर पंचायत द्वारा फैसला सुनाया गया – ''भूआर्य पूरे समाज को भात खिलाएँ। दो हजार रूपये पंचायत को दे। रीति–रिवाजों के साथ सिर मुड़वाये और पंचायत के लोगों के पैर धुले पानी से नहायेगा। यदि वह नहीं माना तो गाँव से उसका हुक्का–पानी बंद।''[1] सहारा दागी बनते–बनते साफ कैसे बच गया, पंचायत ही जाने। आदिवासी क्षेत्रों में किसानों के पास नाम मात्र की ही खेती होती है। ऐसे में सारी जमापूँजी भात में लग गई। (भात खाना–समाज के लोगों द्वारा दिया गया पंचायती दंड) समाज के दलाल ठेकेदारों ने उसे चूस लिया था। भूआर्य के साथ हुए अन्याय से ऊहापोह की स्थिति में होकर भी न्यायिक रामलाल बट्टी की बेटी को रक्तदान करते हैं। गुरुजी शिक्षित धनराज से कहते हैं – ''हाथ लगाए तो भात खाए। अब तो खून महाबती की रगों में दौड़ रहा है, अब क्या खायेंगे....महाबती को?''[2] प्रत्युत्तर में वह बोलता है – ''यह तो हमारे गाँव की सामाजिक परम्पंरा है, इसे हम छोड़, मोड़ या तोड़ नहीं सकते। हमारे समाज में ऐसे ही होता है।''[3] विडम्बना ही है कि तथाकथित परम्पराओं के कारण ऊँची–नीची इकाइयों के घेरेबंदी में घिरे लोग इसके दुष्परिणाम भोगने को मजबूर है।

'प्रिय हकरिया' भारत दोसी की एक आदिवासी पिता का दर्द, माँ की आँखों का इंतजार और पढ़े–लिखे युवा आदिवासी के नैराश्यपूर्ण जीवन की कहानी है। कहानी पत्र शैली में लिखी गई है। यहाँ आदिवासी समाज की परंपराओं में आपसी द्वन्द्व और विरोधाभास दिखाई पड़ता है। वैसे शराब पीना आदिवासियों की सामाजिक व्यवस्था है, हर खुशी–गम में ये उनकी साथी होती हैं, पीना खाना उनकी संस्कृति में है परंतु इसकी अधिकता एवं अव्यवस्था आदमी को ही पी जाती है। टॉपरे का पिता कहता है – ''हमारा समाज तो आजाद ख्याल है। औरतों को भी हक देता है कि वह चाहे तो पति को छोड़ दे या दूसरे के साथ नातरे चली जाएँ। हम कहाँ शादी को जन्मों का बंधन मानते हैं।''[4] विपरीत इसके पत्नी के छोड़ जाने पर टॉपरे नौकरी छोड़कर शराब में डूबा रहता है और उसके पिता उसे ढूँढने के लिए शहर जाकर सारी जमापूँजी खर्च कर देते हैं।

शिशिर टुडू की 'इज्जत' कहानी एक आदिवासी के आत्मसम्मान को चूर किये जाने, पुलिसिया तंत्र द्वारा अत्याचार एवं गरीब, मजदूर आदिवासी पर पाकिस्तान सरकार द्वारा जासूस होने का आरोप लगाकर उससे मारपीट कर बारह वर्ष तक जेल में रख प्रताड़ित किये जाने की व्यथा कथा है। वनों का विनाश होने के कारण आदिवासियों को अपनी आजीविका के खातिर दर–दर भटकना पड़ रहा है। पंडू मुंडा भी छवमसिया के कहने पर दुगुनी प्राप्ति हेतु मजदूर में भर्ती होकर पठानकोट आया। किंतु यह भी उनका दुर्भाग्य है कि आदिवासी मजदूरों को दुगुनी आय का लालच देकर ऐसे शोषण तंत्र और काम तंत्र में फँसा दिया जाता है, जिसे न वे करते बनते हैं और न ही छोड़ते बनते हैं। पाकिस्तानी अफसर के सरहद पार करने का कारण पूछने पर पंडू कहता है – ''सच बोलें साहब! कौन किसका इलाका, इससे हमको का मतलब....? अरे बाबा हमरा घर भी जंगले के बीच में हैं.... तो अइसने एक दिन घर का याद आ रहा था, आउर हम निकल गए जंगल तरफ घूमने। लेकिन हमको घूमने कहाँ दिया...? आपका मिलेट्री हमको पकड़ लिया....साहब! हमको छोड़ दो साहब! हम रोज कमाने–खाने वाला मजदूर है साहब...आउर नहीं तो गोलिये मार दो, इ रोज–रोज का किचिर–किचिर से तो ओही ठीक रहेगा।''[5]

बिना किसी अपराध के पंडू पाकिस्तानी जेल में बारह वर्ष तक नारकीय जीवन व्यतीत करता है। जेल से छूटने के पश्चात प्रेस फोटोग्राफर और संवाददाताओं द्वारा खुलासा किये जाने कि 'आपको सरकार द्वारा सम्मानित किया जाएगा....! तो आपसे सरकार और प्रशासन को कोई मिलने नहीं आया?' सुनकर पंडू बेहद आश्चर्यचकित होता है। गाँव में पानी के अभाव में खेती–बाड़ी करना कठिन था, इसलिए पंडू मजदूर बनकर पत्थर खदान में काम करने लगा और लेबर कॉलोनी में आ गया। दारोगा द्वारा पंडू को थाने बुलाये जाने पर वह डर के मारे थूक निगलकर कहता है – ''हमसे का गलती हो गया हुजूर?' दारोगा जी उसके नाते–रिश्तेदारों की मिजाजपुर्सी करते हुए बताते है – ''गलती नहीं रे पंडुआ, तुमरा किस्मत सुधर गया रे बुड़बक कहीं का...! पाकिस्तानी जेल से तुम छूटकर आ गया न रे, बस ओही काम कर गया बेटा! मुख्यमंत्री तुमको सम्मानित करने आ रहे हैं।''[6] सम्मानित करने का अर्थ पूछने पर दारोगा क्रोधित होता है – ''सम्मानित नहीं बूझा रे स्साला गंवार! तुमने पच्चीस हजार रूपये और प्रशस्ति पत्र देने आ रहे हैं मुख्यमंत्री ....पच्चीस हजार तो तुमरा बापो न देखा होगा, और हाँ पंडुआ उस दिन अगर एक बूँद

भी पिया न, तो स्साले खाल खिंचवा देंगे।''[7] नसीहत लिए वह तीर के समान थाने से निकला। उसके मन में गहरा अंतर्द्वन्द्व व्याप्त हो गया। उसे अपना वजूद, अपना अस्तित्व, अपना आत्मसम्मान उखड़ता नज़र आ रहा था। एक तरफ सरकार उसे सम्मान देने वाली है, दूसरी तरफ दारोगा, हवलदार जैसे लोग उसके सम्मान की धज्जियाँ उड़ाते हैं, अभद्र भाषा में व्यवहार करते हैं। यह कैसा सम्मान है? मुख्यमंत्री के सम्मानित करने से क्या होता है? क्या सबके साथ ऐसा ही होता है? किसी पैसे वाले को हवलदार वैसे बुलाकर दिखाए, जैसे हमें बुलाया था? हमको इज्जत दी जा रही है या बेइज्जत किया जा रहा है? तमाम तरह के प्रश्न पंडू को झकझोर कर रख देते हैं और उस दिन के बाद वह लेबर कॉलोनी में कभी नज़र नहीं आया। पंडू अपने आत्मसम्मान, अपने स्वाभिमान की रक्षा में सफल हो गया था। कहानी पंडू के माध्यम से तमाम आदिवासी मजदूरों के स्वाभिमान संघर्ष को व्यक्त करती है। निरपराध होकर भी सरहद के इस पार भी और उस पार भी उसे सिर्फ शोषण, अन्याय, नकार और गालियाँ ही नसीब होती है, एक ऐसा नारकीय जीवन जिसे जीने को वह अभिशप्त है।

'धुँआता आदमी' (श्यामल बिहारी महतो) अपनी जमीन, अपनी जोरू, अपनी जिंदगी की लड़ाई लड़ता अकेला सिपाही सुदामा के दीनहीन जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है। सुदामा की स्थिति उसके नाम को चरितार्थ करती है। किस तरह उसे जीवन के हर कोने से मारा और कुचला गया, परंतु वह डोंड़ साँप की तरह कराहते रहकर भी मरा नहीं। टूटते विश्वास और मरते स्वप्न को अंतिम हथियार की तरह मन में संजोकर वक्त और हालात के साथ अकेला संघर्ष करता रहा, किंतु उजाला कभी उसे नसीब ही नहीं हुआ। विस्थापन के चक्रव्यूह में फँसे सुदामा को किस प्रकार अपने जीवन का ही अंत करना पड़ा, कहानी बतलाती है। सी.सी.एल. अधिग्रहण में उसकी सारी जमीन ले ली तथा बदले में मिलने वाला मुआवजा एवं नौकरी उसके काका ने हथिया ली। काका की साजिश और कारगुजारियों का पता चलने पर बड़ी भागम–भाग के बाद उसने काका के मंसूबों पर रोक लगाने में कामयाबी पाई और खुद नौकरी लेने के प्रयास तेज़ कर दिये। सरकारी कंपनी के घेरे में वह एक बंदर बनकर रह गया। कभी इधर भागता, कभी उधर। विस्थापितों के साथ प्रबंधन की जोर जबरदस्ती, अपनी ही जमीनों को बचाने की कवायद, लड़ाई झगड़े, फिर प्रबंधन–पुलिस की गठजोड़, नतीजा केस–मुकदमा, बोकारो स्टील सिटी में विस्थापित व बहाली को लेकर धरना प्रदर्शन जैसी खबरों से वह घबरा उठता।

एक दिन क्षेत्र के बड़े मजदूर नेता आर. के. सिंह के कहने पर नौकरी प्राप्ति हेतु 'आमरण अनशन' की नीति अपनायी। सुदामा के लिए अनशन, धरना, भूख हड़ताल करने का हौंसला आसमान छूने जैसा था। तीन दिन के अनशन के बाद भी न प्रबंधन, न प्रशासन और न ही उस तथाकथित नेता ने सुदामा की सुध ली। धरना–अनशन के बाद बलदेव गोसाई का उसके घर आना–जाना अधिक हो गया, परंतु सुदामा उसके पीछे छिपे मंतव्य को जान न सका। अचानक उसकी पत्नी सुनीता बलदेव के साथ भाग गई और उसके जीवन में ऐसी हलचल मचाई कि सबकुछ हाथ से निकल गया। मुआवजे को लेकर दुबारा हड़ताल की तो बिना सूचना काम बाधित करने के जुर्म में पुलिस ने उसे दो दिनों तक भूखा–प्यासा थाने में बंद रखा। उसकी आजीविका का स्त्रोत एकमात्र चाय–पकौड़ी की दुकान रह गई थी। यही उसके घर–परिवार की पहचान थी। उसकी माँ उसका केंद्र बिंदु थी। पत्नी भाग गई, माँ ने आत्महत्या कर ली, बहन ने रिश्ता तोड़ लिया और भाई ससुराल में जाकर बस गया। पूरे घर–संसार में सुदामा अकेला रह गया। भयानक कष्ट, मानसिक संताप और अनेक उलझनों ने उसकी जिंदगी को जर्जर बना दिया। पत्नी के वापस आने के विश्वास में उसने खुद को जिलाए रखा। दुःख, निराशा, अंधेरा उसके जीवन में चारों ओर व्याप्त हो गए। घर छोड़कर कोलियारी के हाजरी घर के सामने ही एक चाय–पकौड़ी की दुकान खोली। सुबह–शाम दुकान चलाता और दोपहर में खदान में जा–जाकर चना–घुघनी बेचता। यह कोई अवसर विशेष दौड़ न होकर एक जीवन–दौड़ थी जो सुदामा के हिस्से में आई थी। एक बार पुनः होटल खाली करने का नोटिस मिलने पर वह बौखला गया, आक्रामकता उस पर हावी हो गई। उसके मुँह से क्रोधवश निकला – ''स्याले तेरी नोटिस की ऐसी की तैसी। पहले हमें विस्थापित किया फिर बेघर किया। अब अवैध कब्जाधारी ही बना दिया। इस नोटिस का जवाब अवश्य दूँगा और बताऊँगा कि कौन है अवैध कब्जाधारी।''[8]

कुछ निश्चय कर पी.ओ. कलमाड़ी साहब को चाय देने गया और बोला – ''पी.ओ. साहब आपने हमें बरबाद कर दिया। मेरा मकान दुकान सब आपकी खदान में समा गया लेकिन न नौकरी मिली और न मुआवजा। मेरे जीवन को ऐसे चक्रव्यूह में डाल दिया जहाँ से बच निकलना मेरे बस की बात नहीं। बारह सालों से हम विस्थापन का जीवन जीने को विवश हैं। पैसा न होने से आदमी कैसा जीवन जीता है यह हम से बेहतर कोई नहीं जान सकता है। हम जमीन, जोरू और अब जीवन से भी विस्थापित हो गये है और यह आपकी वजह से।''[9] और सुदामा केतली में भरा

पेट्रोल कलमाड़ी साहब और स्वयं पर डालकर आग लगा देता है। कोयलाचलं में वह सुनामी की तरह छा गया। 'सुदामा अपने विस्थापित जीवन से आजाद हो चुका है' कहानी की अंतिम पंक्ति उसकी विस्थापित जिंदगी की भयावहता, विवशता, दर्द व शोषण को साकार करती प्रतीत होती है।

'मोरपंखी पेड़' श्री बी. मुरलीधर द्वारा रचित तेलुगु आदिवासी कहानी है, जिसका अनुवाद डॉ. टी. वसंता ने किया है। कहानी में राम–रावण संवाद नाटक के जरिये रोचकता है नारायणय्या द्वारा घर के आँगन में तरह–तरह के पेड़–पौधे, औषधि, लताएँ लगाकर रखना उसके प्रकृति प्रेम को व्यक्त करता है। कदल आशन्ना के बैल के अस्वस्थ हो जाने पर मंच छोड़कर बैल को औषधि देना उसके जीव प्रेम का साक्ष्य है। परंतु आधुनिकता ने पुरानी परम्पराओं से लोगों को विलग कर दिया है। सामाजिक विकास क्रम में संयुक्त परिवार एकल परिवारों में परिवर्तित हो रहे हैं। नारायणय्या व उसके बेटों द्वारा बँटवारा करना आदिवासी प्रथाओं को रौंदने जैसा है।

जोराम यालम जाबाम की 'दिलासा' कहानी आदिवासी मजदूरों की पीड़ा, दर्द और परेशानी को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। बिजोया सावियान की 'लंगड़ापन', सेरिड़् छोरोल की 'अखरोट का दरख्त' शहर की आधुनिकता में पीछे छूटे चुके अपने जमीन–जंगल, वृक्षों के संस्मरण की कहानी है। पद्मा के लिए दरख्त उसका भाई था, दोस्त था। जब उसकी कटाई का कार्य शुरू हुआ, वह देख न सकी और बीमार पड़ गई। तेज बुखार में भी वह 'मेरा दरख्त...' बुदबुदाती रहती थी। उस बेबस के पास आँसू बहाने के सिवा कोई चारा न था। अखरोट के दरख्त पर कुल्हाड़ी की आखिरी चोट के साथ ही पद्मा ने प्राण छोड़े होंगे जैसे चुपके से दोनों ने साथ–साथ जाने की कोई संधि कर ली हो। सिद्धेश्वर सरदार की 'हम खो गए' अपनी दादी से पूर्वजों की कहानी सुनकर अपनी जन्मभूमि, संस्कृति को तलाशती महिला की कहानी है। ब्रिटिश काल में लाखों लोगों को अपनी भूमि से विस्थापित होना पड़ा था। सुलोचना के कथन से स्पष्ट है – ''मेरे पूर्वजों को अंग्रेज लोग सिंहभूम से 'बेगारी मजदूर रूल' लकड़ी कोयले के इंजन से चलने वाले रेल में जानवरों की तरह ठूंस–ठूंस कर, 1884–85 में ले गए थे।''[10] भूमिज समुदाय में अपनी ही किली (गोत्र) में शादी नहीं होती। चाहे आसाम का बारदा किली हो या ओडिसा, पश्चिमी बंगाल या झारखंड का। भूमिजों में दूसरी किली से शादी–विवाह रचाने की परंपरा है। अपनी जन्मभूमि को देख सुलोचना को विस्थापन और पलायन का दर्द पता चलता है, अपनी बुनियादी पहचान को खोना, रस्मों–रिवाज भूल जाना उसे दुःखी करता है। वह कहती है – ''गाँव समाज से बाहर रहने और अपनी परंपरा संस्कृति से कटे रहने का परिणाम है कि मैं आज धनुष भी नहीं पकड़ सकी। गाँव की सामूहिकता करम, सरहूल अखड़ा के सामूहिक नृत्य से मैं और मेरा परिवार तथा आसाम में रहने वाला हमारा समुदाय बिल्कुल कटा हुआ है। अगर मैं आदिवासी होती तो तीर चलाती, हंडिया पीती, भूमिज भाषा का नाच–गान कर पाती। मैं तो यहाँ के लोगों के साथ अपना तालमेल ही नहीं बिठा पा रही हूँ। भानूसिंह की बात और जन्मभूमि की स्थिति जानकर सीने पर काँटे चुभने लगे हैं। भूमिज की संस्कृति मैं तोड़ना नहीं चाहती। संस्कार तो गाँव समाज के लोगों से मिलकर बनता है न। वह मानव निर्मित होता है। उसे समाज में बैठकर बदला जा सकता है या नया गढ़ा जा सकता है।''[11] उसका मन केवल और केवल आसाम की ओर खिंचा चला जा रहा था। लग रहा था कि सदियों की मरी हुई आत्मा वापस आ गई जो आत्मा भटक रही है, विस्थापन और पलायन के दर्द को नजदीक से आत्मसात करने की उसकी कोशिश भी सफल नहीं हो पा रही थी।

वाल्टर भेंगरा तरूण की 'लसा' कहानी में आदिवासियों के लिए विकास मेलों का आयोजन, स्व–रोजगार के लिए मुफ्त प्रशिक्षण, खेती बाड़ी की जानकारी देने की आड़ में तुलसी, मरियम जैसी बेबस और भोली लड़कियों को अपने चक्रव्यूह का शिकार बनाया गया है। यह मेला आयोजको के प्रधान देवेन्द्र की आदिवासी लड़कियों के प्रति कुत्सित दृष्टि को उजागर करती है। मेले में कही खेती के तौर–तरीके बताये गये तो कहीं महिलाओं को सिलाई प्रशिक्षण दिया गया। सिलाई मशीन भी मुफ्त में बाँटी गई, पर मेले के पीछे का उद्देश्य कुछ और ही था। सरला जैसी स्वार्थी महिलाएँ इनके अहसान के बोझ तले दबी रहकर ऐसे चक्रव्यूह में फँस जाती है जिससे न तो बाहर आ सकते हैं, न ही अंदर जा सकते हैं। कोई रास्ता न मिलने पर सरला तुलसी को बरगलाकर दिल्ली ले जाती है, एक अंतहीन शोषण व त्रासदी की ओर। इस बात की भनक किसी को नहीं लगी। गाँवों में चिड़ियों को फंसाने के लिए लोग बाँस की लंबी पतली तिल्लियों में फुटकल और बट पेड़ों से निकले गोंद के 'लसा' को साट कर जलस्त्रोतों के आस–पास गाड़ देते हैं। पक्षियों को ललचाने के लिए वे उन पर फतिंगे और तितलियाँ चिपका देते हैं। 'लसा' तो देवेन्द्र बाबू ने बहुत पहले ही लगा रखा था। उस 'लसे' में पक्षियों (युवतियों) को ललचाने के लिए सरला जैसी जरूरतमंद महिलाओं को फतिंगों और तितलियों की तरह चिपका कर गाड़ दिया गया था। जिनकी ओट में तुलसी जैसे पक्षी चिपकते जा रहे थे।

शिशिर टुडु की 'नक्सली' कहानी एक आदिवासी किसान के मजदूर बनने और मजदूर से नक्सली घोषित कर दिये जाने की त्रास्दी को प्रकट करती है। पुरखों से जिस जमीन पर फागु के पूर्वज खेती करते आ रहे थे, गाँव के महाजन सुखीराम ने उस पर कब्जा कर लिया। उसके पूर्वजों ने यह जमीन जंगल साफ करके बनाई थी। मुकदमा दायर हुआ, छः साल तक चलता रहा, फागु किसान से मजदूर बन चुका था। दिहाड़ी मजदूरी ही परिवार की पेट पूर्ति का एकमात्र साधन थी। आदिवासी एक ओर जहाँ गाँव के सूदखोर महाजनों, पटेलों, साहूकारों के शोषण से त्रस्त हैं, वहीं दूसरी ओर सरकारी कर्मचारी व व्यवस्था भी उनको निचोड़ कर रख देती है। बीरपुर के राजस्व कर्मचारी रामौतार फागु की सहायता का छद्म नाटक कर उसका शोषण करता है। एक टिकट में दो खेल देखने के उद्देश्य से कर्मचारी बिना किसी को बताने की सलाह देकर कहता है – ''देखो सरकार जो है, तुम जइसा गरीब लोगों के लिए कुआँ खुदवाने का इस्कीम पास किया है। हम लिख देंगे, तो बीडीओ साहेब पास कर देंगे। बस सरकारी पइसा से खोदवा लो कुआँ और करो जम के खेती। का बोलते हो?''[12] भोला–भाला फागु उसके जाल में फँसकर अपने बैल, बकरी सब कुछ बेचकर कुआँ बनवा लेता है और रामौतार उसके पैसे लेकर चंपत हो जाता है। जब फागु को यह ज्ञात होता है तो उसके सिर पर खून सवार हो जाता है। वह बीडीओ साहब की गर्दन पकड़ लेता है और कहता है – ''तुम सब मिला हुआ है। हमको पता चल गया... तुम लोग हमको बर्बाद कर दिया। बैल, बकरी सब बेचवा दिया...तुम लोगों को छोड़ेंगे नहीं।''[13] लात, घूँसे और कुंदे की मार से फागु को बेसुध कर दिया जाता है। दूसरे दिन स्थानीय अखबार के मुख्य पृष्ठ पर उसकी तस्वीर छपी और लिखा था – ''बीरपुर के बीडीओ का अगवा करने आये नक्सली को मौके पर तैनात पुलिस ने योजना बनाकर दबोचा। गिरफ्तार नक्सली से पूछताछ के क्रम में कई अहम सुराग मिलने के संकेत मिले हैं...।''[14] बीरपुर का प्रत्येक व्यक्ति अचंभे में था कि फागु कब से और क्यों नक्सली बन गया?

मीरा रामनिवास की 'अंतिम टारगेट' डायरी शैली में लिखी गई है। हांसदा सौवेन्द्र शेखर की 'प्रवास का महीना है नवम्बर' अपना पेट भरने के लिए देह का शोषण कराने को मजबूर आदिवासी संथाल लड़की की कहानी है। विमल कुमार टोप्पो की 'रक्तदान' कहानी अफसरों की घटिया प्रवृत्ति, आदिवासी धर्म परिवर्तन, हिन्दुधर्म की वर्चस्वता को बतलाती है। पुलिस व लोगों को एक आदिवासी मनुष्य की जान से ज्यादा कीमती गाय लगती है क्योंकि गाय हिंदुधर्म का प्रतीक है और वह वर्चस्व श्रेणी में है। अपंग सिमोन को एक सर्टिफिकेट बनवाने के बदले में ऑफिस के हर अफसर, कर्मचारी द्वारा प्रताड़ित व अपमानित किया जाता है, अफसर उसके धर्म पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। लगभग छह महीने बाद उसी अफसर की माँ के लिए ब्लड की आवश्यकता पड़ती है और जैसा कि आदिवासी स्वभाव से ही भाईचारे, सहयोग, सामूहिकता की प्रवृत्ति युक्त होते हैं, सिमोन अपना रक्त दान करता है। उसकी सोच है सब मानव एक सामन है, एक की सहायता के अभाव में दूसरा नहीं मरना चाहिए। रक्तदान के बाद घर आते समय उसके साथ दुर्घटना हो जाती है। ऑपरेशन के लिए खून की जरूरत पड़ती है परंतु 'O' ग्रुप का डोनर नहीं मिलता और उसके प्राण पखेरू उड़ जाते है। सिमोन की लाश लावारिस की तरह बरामदे के फर्श पर रख दी जाती है। थाना, पुलिस, कोर्ट–कचहरी, मामला–मुकदमा करके क्या मिलेगा? आदिवासी तो रोज ऐसे ही मरते हैं। यह सिमोन का विडम्बनापूर्ण अंत था।

'समायोजन' में विस्थापन की मर्मान्तक पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। बड़े–बड़े बाँध, कारखाने, सड़क, रेलवे लाइन एवं विभिन्न परियोजनाओं का अंततः परिणाम निकलता है – असंतुलित विकास। आदिवासियों की बेदखली करने को नये–नये षड्यंत्रों की खोज। एक वर्ग का मजा और दूसरे की सजा। जमीन अधिग्रहण के बदले तुच्छ मुआवजा राशि प्रदान की जाती है। क्या सांस्कृतिक विरासत एवं सामुदायिक परिवेश को पहुँचे आघात का भी कोई मुआवजा हो सकता है? उनकी कृषि योग्य भूमि पूँजीपतियों को कारखानों के लिए सौंप दी जाती है। विस्थापन का अर्थ ही है – हर स्तर पर शोषण ही शोषण। आदिवासी संस्कृति, परंपरा, विचारधारा एवं संकल्पना दूसरी संस्कृतियों के भयंकर झंझावतों और प्रहारों को झेलते हुए कमजोर अवश्य हो गयी है लेकिन आज भी आदिवासी इलाकों के जंगल, वृक्ष, तालाब, मिट्टी के कण–कण में इसकी सुगंध रची–बसी है। समय के साथ बदलती संस्कृति एवं परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक हो गया है। भू–माफियाओं से निबटने का सबसे अच्छा तरीका कहानी बताती है। 'सलीब' सभ्य–असभ्य लोगों के बीच फैली गहरी खाई, धर्म के नाम पर हिन्दुओं द्वारा आदिवासी और धर्मान्तरण क्रिश्चियन आदिवासी को लड़ाने की साजिश, षड्यंत्र और कल्याण का द्वन्द्व, मुख्यधारा द्वारा उनके अँधेरे को निरंतर गहरा करना, ईसाईयों द्वारा उन्हें शिक्षित कर उनकी आने वाली पीढ़ियों के भाग्य और नियति में बदलाव को उजागर करती मजबूत कहानी है। एक ओर तथाकथित कुलीन वर्ग, हिंदु धर्म के पुरोधा चाहते हैं कि आदिवासियों को रोशनी से महरूम कर उनकी असभ्यता को इतनी गहरी कर दे कि युग–युगान्तर तक वे इसे नियति मानकर

सहते रहें और उनके समकक्ष बैठने की हैसियत कभी न बना पायें। वहीं दूसरी तरफ ईसाईयों द्वारा शिक्षा के माध्यम से नरक समान जीवन से मुक्ति प्रदान कर सभ्य बनाने पर विदेशी अतिक्रमण का झंडा लहराकर आदिवासियों पर हिंदु धर्म थोपने का पूर्ण प्रयास करते हैं। हिंदुवादी धर्म संगठनों की कुदृष्टि आदिवासियों से जबरन धर्मांतरण कराये जाने का बवाल मचाती है। आदिवासियों हेतु शैक्षिक अभियान के पीछे फादर की कोई साजिश रही हो या कल्याण, विकास की भावना परंतु इतना अवश्य है उनकी दशा में सुधार आया है, चेतना जगी है तथा यही बात मुख्यधारा को रास नहीं आ रही है। इसलिए वे आदिवासियों को आपस में ही लड़ाकर, मार–काट करवाकर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए प्रयासरत है।

सुनील कुमार सुमन की लघुकथाएँ 'संभ्रांत लोग' और 'भ्रष्टाचार' सभ्य वर्ग की मानसिकता व मनोवृत्तियों को यथार्थ ढंग से उजागर करती है। संभ्रांत वर्ग जहाँ एकाकी, स्वार्थी, स्वहित को प्राथमिकता देने वाला और स्वयं से कमजोर वर्ग के साथ घृणित व उपेक्षित व्यवहार करने वाला होता है, वहीं आदिवासी वर्ग सामूहिकता, निःस्वार्थ प्रेम भावना, मिल–जुलकर रहने की प्रेरणा, परहित या जनहित को प्राथमिकता और कमजोर वर्ग के साथ समानता व भातृत्व का भाव लिए होता है। लघुकथा इसका उत्कृष्ट उदाहरण है कि एक तरफ बड़े–बड़े अमीर घरों वाली कॉलोनी में लोगों के बसने के बाद कुछ कुत्ते आकर बस गये। वे दिन–रात भोजन के लिए इधर–उधर दरवाजों के चक्कर काटते किंतु सभी उनकी सुध लेने की अपेक्षा मारने को दौड़ते, फिर भी अपना संरक्षण धर्म निभाते हुए कुत्ते रखवाली कार्य में मुस्तैद रहते। शीघ्र ही भोजन के अभाव में वे सब बीमार और मरियल हो गये। दूसरी तरफ संभ्रांत कॉलोनी के ठीक सामने ही एक नई कॉलोनी निर्माणाधीन थी। यहाँ बहुत सारे आदिवासी मजदूर कार्यरत थे। अपने परिवार के साथ वे वहीं झोंपड़ी बनाकर रहते थे। सबकी स्थिति फटेहाल और दीनहीन थी। वहाँ भी कुछ कुत्ते बस गये और यहाँ जो अलग बात थी वह यह कि आदिवासी मजदूर इन कुत्तों को कुछ ना कुछ रोज अवश्य खिलाया करते थे। उनके बच्चे भी कुत्तों के अच्छे मित्र बन गये। फलस्वरूप ये कुत्ते हष्ट–पुष्ट और तगड़े थे। स्पष्ट है कि आदिवासी प्रत्येक चीज को समान भाव से देखते हैं और मिल–बाँटकर खाने–रहने की संस्कृति में विश्वास रखते हैं। दूसरी लघुकथा भ्रष्टाचार के फैले अन्तरव्यापी जाल और विडम्बना का सटीक चित्रण करती है। 'भंडाफोड़' मासिक के आगामी अंक 'भ्रष्टाचार विरोधी अंक' की पहले से ही काफी चर्चा और प्रतीक्षा हो रही थी। लोग पत्रिका के छपने का समय पूछते परंतु संपादक किसी को क्या बताता, पैसों का अभाव किसे समझाता। विज्ञापन के लिए चार महीने से सरकारी दफ्तरों के चक्कर काटे है, सभी जगह बीस प्रतिशत अग्रिम दिए बिना कोई विज्ञापन जारी नहीं करने का राग। संपादक महोदय का कहना था कि "भ्रष्टाचार विरोधी अंक छापना है और वह रिश्वत देकर भ्रष्टाचार को बढ़ावा नहीं दे सकता।"[15] पत्नी, ऑफिस के तमाम लोगों ने समझाया पर संपादक जी उसूल से हटने को तैयार न थे। तीन महीने और गुजरने के पश्चात समय व पाठकों के दवाबों के कारण आखिर संपादक को हार माननी पड़ी। पत्रिका छपी, चारों ओर इस विशेषांक की धूम मची थी, लोगों ने हाथों–हाथ क्रय किया। विडम्बना तो देखिए कि "उस वर्ष भ्रष्टाचार के खिलाफ मुहिम चलाने में 'भंडाफोड़' मासिक पत्रिका के इस योगदान के लिए सरकार ने संपादक को विशेष पुरस्कार देने का ऐलान कर दिया।"[16]

इक्कीसवीं सदी की भयावहता कई परतों में इन कहानियों में मौजूद है। लुटेरे, हत्यारे, दलाल आसमानों, पहाड़ों, मैदानों को लाँघते हुए, धरती के मर्म को दबोचने, सीना छलनी करने हाथ बढ़ाये जा रहे हैं। विकास के रूप में आदिवासी को खदेड़ने का खाका बना दिया है। विस्थापित लोगों की भीड़ अपनी रही–सही शेष गृहस्थी के साथ अन्यत्र चले जाने को तैयार है। सरकारी योजनाएँ उनका विकास नहीं करती अपितु एक अज्ञात भविष्य की ओर ढकेल देती हैं। अशिक्षा, भूख, कुपोषण को उनके जीवन का अंग बना देती है। उनका शारीरिक व मानसिक ह्रास करती है। एक समस्या का निदान कर दूसरी समस्या को जन्म देना विकास नहीं हो सकता। कारगर पुनर्वास योजना और रोजगार व्यवस्था के उपरांत ही इन योजनाओं के फलीभूत होने की संभावनाएँ हो सकती है। लेखक अपनी कहानियों के माध्यम से व्यवस्था के विरुद्ध सवालों को अनवरत उठाते रहे हैं। वैचारिक हमलों के प्रति भी वे सजग, सचेत है। ये कहानियाँ अमानवीयताओं, शोषण के उपादानों और भेदभाव की विषमताओं, क्रुरताओं, विभीषिकाओं एवं संकीर्ण मनोवृत्तियों को समाप्त कर उजाले की तलाश में जद्दोजहद करते व्यक्ति की कहानी है।

'दावेदार' (सरिता बड़ाईक), 'माता–पिता की आज्ञा' (अर्जुन सिंह), 'धरती का सच' (विक्रम चौधरी), 'एक तोता और बूढ़ा बैगा' (रतन बैगा), 'गोंडराज बोमगोंड' (डॉ. के.एम. मैत्री), 'दूल्हा ठेके पर' (चंदालाल चकवाला), 'वनवासी नही.... आदिवासी!' (वाहरू सोनवणे), 'जुलुम भूख' (विश्राम वलवी), 'धाड़' (सुनील गायकवाड़), 'ढोल' (संजय लोहकरे), 'इरूक' (वसुधा मंडावी), 'भाकर' (बाबाराम मंडावी), 'मोहताज' (सुन्हेर सिंह ताराम), 'नन्हा सा कंदील' (प्रदीप मंडावी),

'गाय चोर दिकू' (सुशीला धुर्वे), 'भूख' (उषाकिरण आत्राम), 'नया लुगड़ा' (रामराजे आत्राम), 'जर और जोरू' (रघुवीर सिंह मारको) इत्यादि कहानियाँ आदिवासी समाज, स्त्री की समस्या, विसंगति, संघर्ष, शैक्षिक जीवन, प्रथाओं, रिवाजों, अत्याचारों को वाणी प्रदान करती है। वर्तमान समय में हर उपेक्षित समाज अपनी भाषा और साहित्य के जरिये बाहरी शक्तियों के विरुद्ध लड़ रहा है। आदिवासी का संघर्ष ही नहीं, बल्कि स्त्री और जमीन के संघर्ष को भी आदिवासी साहित्य में कलमबद्ध किया गया है।

संदर्भ सूची :–

1. सं. रमणिका गुप्ता, युद्धरत आम आदमी, अंक दिसम्बर 2013, पृ.सं. 22
2. वही., पृ.सं. 22
3. वही., पृ.सं. 22
4. वही., अंक नवम्बर 2014, पृ.सं. 53
5. वही., अंक अगस्त 2017, पृ.सं. 11
6. वही., पृ.सं. 13
7. वही., पृ.सं. 13
8. वही., अंक मार्च 2014, पृ.सं. 9
9. वही., पृ.सं. 14
10. वही., पूर्णांक 27, 2015 पृ.सं. 16
11. वही., पृ.सं. 21
12. वही., पृ.सं. 44
13. वही., पृ.सं. 45
14. वही., पृ.सं. 45
15. वही., अंक जून 2015, पृ.सं. 27
16. वही., पृ.सं. 27